36/4

कामायनी

जयशंकर प्रसाद

चिन्ता-श्रद्धा-रहस्य सर्ग

बी० ए० तृतिया वर्ष०
के लिए

यूनिवर्सल प्रकाशन

जम्मू ।

कामायनी

जयशंकर प्रसाद

चिन्ता - श्रद्धा - रहस्य सर्ग

बी०ए० तृतिया वर्ष
के लिए

यूनिवर्सल प्रकाशन

जम्मू

मूल्य : 15.00 रुपये



1

‘कामायनी’ का कथा-सार

(कथा-सारांश)

कामायनी का परिचय– ‘कामायनी’ श्री जयशंकर जी का अमर प्रसाद है। 15 सर्गो से युक्त प्रस्तुत महाकाव्य को जितनी महिमा-गरिमा प्राप्त हुई, वह ‘रामचरितमास’ के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। विश्व साहित्य का आठवां काव्य (श्यामनारायड वैजल), ‘आधुनिक हिन्दी काव्य का रामचरित मानस’ (विश्वम्भर मानव) ‘सम्पूर्ण मानवता का काव्य’ (रामनाथ सुमन) तथा ‘छायावाद का उपनिषद’ (शान्तिप्रिय द्विवेदी) प्रभृति कथन इसी के कुछ प्रमाण हैं। एकदम सच तो, श्री विश्वम्भर मानव (नोमायनी-अनुशीलन) के शब्दों में, यह है कि, “यदि खड़ी बोली का सब कुछ नष्ट हो जाये और किसी प्रकार कामायनी का कोई सा केवल एक सर्ग बच जाये तब भी किसी देश का कोई पारर्खी यही निर्णय देगा कि भारत में कभी कोई महान् कलाकार वास करता था।” निःसन्देह इत्र की दुकान पर इत्रमय वातावरण में रचित ‘कामायनी’ का एक-एक पृष्ठ और एक-एक छद काव्य-इत्र से सदाबोर हैं। जहां तक प्रश्न है कामायनी के रचना-प्रकाशन काल का तो कामायनी के कुछ काव्यांश सर्वप्रथम अक्तूबर 1928 की ‘सुधा’, ‘माधुरी’ और ‘हंस’ पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। अतएव “इस रचना का आरम्भ निर्विवाद रूप से सन् 1936 से होता है।” जैसा कि श्रीकृष्ण देव प्रसाद गौड ने कहा है, “यह इस समय कोई नहीं बता सकता कि किस विशेष दिन अथवा तिथि को उन्होंने कामायनी की रचना आरम्भ की।” श्री सुधाकर पाण्डेय (प्रसाद की कवितायें) के मतानुसार इसका प्रारम्भिक नाम ‘श्रद्धा’ सोचा गया था– बाद में कामायनी ही नामकरण हुआ। पुस्तकाकार रूप में इसका

सर्वप्रथम प्रकाशन भारती भण्डार, इलाहाबाद से सन् 1928 में हुआ। श्री रायकृष्णदास का मत है कि 'कामायनी' की रचना सम्वत् 1992 की शिव रात्रि तदनुसार 21 फरवरी सन् 1936 के दिन पूर्ण हुई थी। अब तक इसके लगभग बीस संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और यही कवि की अन्तिम काव्य-कृति है।

कामायनी का कथासार- कामायनी की कथा विविध रूपी है। यही कारण है कि इतिहास- पुराण, मनोविज्ञान और कल्पना यह सभी से युक्त है। 15 सर्गो में विभक्त कथा का सार रूप, सर्गानुसार, निम्नांकित है-

चिन्ता सर्ग- प्रलय के उपरान्त एक पर्वत-शिला पर अकेले और असहाय मनु बैठे हुए प्रलयोत्तरकालीन प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन कर रहे हैं। उनका मानस अतीतकालीन स्मृतियों में खोया है। इन्हीं स्मृतियों से स्पष्ट है कि प्रलय में समस्त देव-सृष्टि समाप्त हो चुकी है और उनमें से अकेले मनु ही शेष रह रहे हैं। गतकालीन देव- ऐश्वर्यो और विलासिताओं को याद कर मनु चिंतित हैं। वे समझते हैं कि मानव-जीवन क्षणभगुर है, मृत्यु अमर है और यही चिर सत्य है। इधर प्रलयोपरान्त प्रकृति भी शांत हो चुकी है।

आशा सर्ग- प्रात:काल हुआ और आकाश में भगवान अंशुमाली प्रकट हुए। प्रकृति का रूप ही परिवर्तित हो गया। इसको देख मनुमानस में भी आशा-भाव का संचार हुआ। जीवन-मोह और जीवित रहने की आशा ने मनु को उत्साहित किया। वे एक गिरिगुहा में रहकर यज्ञादि करने लगे। यज्ञ से शेष अन्न सामग्री को वे इधर-उधर रख आते, यह सोचकर कि उन्हीं की भांति शायद कोई अन्य प्राणी भी सृष्टि में शेष रहा हो। दिनचर्या से निवृत्त हो वे सोचते कि उनका भी कोई पूरक साथी होता ताकि जीवन शून्य मात्र न रहता। एक दिन, अकस्मात् निद्रा से जाग कर

वे गुफा से बाहर आकर फैली चांदनी को देखते हैं। प्रकृति का रम्य-रूप उनकी सुप्त वासना को जगा देता है और वे रात्रि से अपनी (काल्पनिक) प्रेयसी का परिचय देने का अनुरोध करते हैं।

श्रद्धा सर्ग- किसी दिन मनु एकाकी और विचारमग्न बैठे थे। इसी समय एक षोडसी सुन्दरी उनके समीप आई। मनु को झटका सा लगा और वे सहर्ष उस को निरखने लगे। षोडसी ने मनु से उनका परिचय पूछा और अपना परिचय भी दिया। वह काम की पुत्री श्रद्धा थी जो यज्ञ-अवशिष्ट को देखकर घूमती-घामती वहां तक आ पहुंची थी। मनु से नैराश्य, अवसाद और भग्यवादिता की बातें सुन उसने उनको कर्म-प्रेरणा दी। उसके मत में काम भी मंगल-कारक और संसार कर्म-क्षेत्र है। प्रकृति का समस्त वैभव उपभोग हेतु है, यदि मानव उसका उपभोग कर सके। इसी से, उसने निरूपाय बिखरे तत्वों को समन्वित करके मानवता की विजय का संदेश मनु को दिया।

काम सर्ग- श्रद्धा को प्रथम दृष्टि में देखकर ही मनु उसकी ओर आकर्षित हो चुके थे। उसके द्वारा दिये गये कर्म सन्देश ने इस आकर्षक को और भी अधिक बढ़ा दिया। विचारमग्न मनु फिर से अतीतोन्मुख हो उठे। श्रद्धा के 'काम पुत्री' होने की बात उन्हें नहीं भूली थी। श्रद्धा और प्रकृति के मादक सौन्दर्य से प्रभावित हो वे मानने लगे कि सौन्दर्य ईश्वर का ही पर्याय है। अन्तःस्थ काम उनको यही कहता प्रतीत हुआ कि 'मैं सदा से अतृप्त हूँ। मैं और रति, देवों के साथ-साथ नष्ट होकर भी अभौतिक रूप में चिर सत्ता धारण किये हुये हैं। श्रद्धा मेरी ही पुत्री है जिसको पाने के लिये तदनुकूल बनना आवश्यक है।" निःसन्देह मनु इससे प्रभावित हुये और उन्होंने श्रद्धा को अपना लिया।

वासना सर्ग- मनु श्रद्धा को अपनाकर उसी के साथ रहने लगे। फिर

भी पुरूषसुलभ आशंका से ग्रस्त पर्याप्त समय तक वे श्रद्धा के सम्मुख प्रणय प्रस्ताव न रख सके। इधर श्रद्धा भी नारी सुलभ लज्जावश झिझकती रही। एक संध्याकाल में मनु ने श्रद्धा को अपने पालतू पशु से खेलते हुए देखा। सोचा कि मुझसे कहीं अधिक तो यह बाल पशु ही भाग्यशाली है जिसे श्रद्धा का अगाध-अबाध प्रेम मिल रहा है। निःसन्देह वे ईर्ष्या और आत्मगर्व से भर उठे।

श्रद्धा ने मनु को रुष्ट देखा तो उनके शरीर का स्पर्श करते हुए कारण पूछा। शरीर स्पर्श होते ही मनु खुल गये और आत्म निवेदन कर दिया। श्रद्धा चौंकी किन्तु काम-बाण से वह भी बिंध चुकी थी। मनु की व्याकुलता को उसने पहचान लिया किन्तु लज्जावश स्वयं कुछ न कह सकी। यही पूछा कि मैं दुर्बल क्या तुम्हारे प्रेम का दान स्वीकार कर सकूंगी?

लज्जा सर्ग- मनु के प्रणय निवेदन ने श्रद्धा को मनोद्वेग में फंसा दिया। आत्मसमर्पण करूं या न करूं की उलझन में वह फंस गई। इसी उलझनग्रस्त अवस्था का समाधान किया स्वयं लज्जा ने जिसका उपदेश था- नारी, श्रद्धा और विश्वास है जिसका जीवन में पीयूष स्त्रोत सा प्रवाहित होता है। उसने अपना तो परिचय दिया ही, मनु के सम्मुख आत्मसमर्पण करने का सन्देश भी दिया। यही सन्देश तो दाम्पत्य सम्बन्ध का सन्धिपत्र था जो श्रद्धा को भीगे अंचल और स्मित रेखा से लिखना था।

कर्म सर्ग- मन ही मन श्रद्धा ने मनु को अपना लिया। इधर मनु कर्म, सोम और नव जीवन के उत्साह से भर उठे। तर्कशास्त्र की सीढ़ी ने उनको और भी अधिक महत्वाकांक्षी बना दिया। इसी समय आकुलि और किलात नामक दो असुर उनके मन ललचा उठे। आँखों ही आँखों में योजना बनी और दोनों ने मनु मन्तव्य की पूर्ति का साधन 'यज्ञ' को

बताया। मनु स्वयं यही चाहते थे। फलतः उन्होंने श्रद्धा की नाराजगी पर भी ध्यान नहीं दिया।

यज्ञ हुआ और उसमें प्रिय बालपशु की भी बलि दे दी गई। मानिनी श्रद्धा दुःखी हो गुहा में चली गई और इधर मनु सोमपान में रत हो गये। सोमपान कर वे गुहा में पहुंचे और छिटकती चांदनी में सोई हुई सोन्दर्य की सानी श्रद्धा को देखा। मनु ने क्रीड़ाओं का श्रीगणेश किया तो मानिनी जाग गई, मान-भंग हुआ किन्तु मनु के अनुरोध पर रत खोल उठा। अन्ततः आँखें आँखों में डूबी, अधर रसमग्न हुये और चुम्बन से तृप्तता बने प्राण धधक उठे। अग्नि-शिखा बुझ गई और सुख-सपने जाग गये।

ईर्ष्या सर्ग– श्रद्धा की क्षणिक नारीसुलभ दुर्बलता कि मनु पुरूष के सम्मुख किये गये आत्म-समर्पण ने उसको मनु की दासी मात्र बना दिया। पत्नी बनाते ही मनु का पतित्व भव जागृत हो उठा। नवीनता के प्रेमी मनु मृगया आदि में रत हो गये। पशुओं की हत्या करना और सारे दिन वनों में विचरता उनका आवश्यक कार्यक्रम हो गया। इधर श्रद्धा गुहा-द्वार पर बैठी उनकी प्रतीक्षा करती, दिन रात तकली से चिपटी रहती और सब मिलाकर एकांकी बनकर रह जाती। इस समय वह सगर्भा भी बन चुकी थी। इधर, मनु को लगता कि श्रद्धा उसको पूर्ण प्रेम नहीं देती क्योकि उसका प्रेम भाव बंट चुका है। एक रात्रि में श्रद्धा पर यही दोषारोपण कर अहंकार और क्रोध से भर मनु श्रद्धा को छोड़ घर से निकल पड़। श्रद्धा 'निर्मोही! रुक जा' ही कहती रह गयी।

इड़ा सर्ग– घूमते-घामते मनु सरस्वती नदी के तट पर स्थित सारस्वत प्रदेश में जा पहुंचे। यही वह स्थान था जहां कभी देवासुर-संग्राम हुआ था, जहां पर सुख-वैभव के सभी साधन थे और जहाँ कभी देव-सभ्यता अपने चरम विकास पर थी। अब? प्रलय में सब कुछ नष्ट हो चुका था।

अवशेष रूप में शेष थे, केवल ध्वसावशेष जो अभी भी प्रलय की भयंकर गाथा दोहराते हुए प्रतीत होते थे।

एक रात इन्हीं ध्वंसावशेषों में पड़े एकाकी मनु अतीत की स्मृतियों में खोये पड़े थे और आत्मग्लानिवश अपने श्रद्धा-परित्याग को वे बुरा-भला कह रहे थे। इसी समय उन्होंने काम की वाणी सुती जिसमें काम ने आत्म-परिचय देने के साथ-साथ श्रद्धा रहित मनु के नाना कष्ट भोगने की भविष्यवाणी भी की। शाप को सुन मनु चौंक पड़ें।

प्रातः हुआ। सूर्य के प्रथम आलोक में मनु ने एक अनिन्द्य सुन्दरी को देखा। यह थी इड़ा-सारस्वत प्रदेश की शासिका। निराश मन को यह 'नयन महोत्सव की प्रतीक' और 'अम्लान नलिन की नवमाला' सी प्रतीत हुई। उसके एक हाथ में कर्म-कलश था और दूसरा बुद्धि को प्रकट कर रहा था। उसने मनु से न केवल परिचय प्राप्त किया वरन् उनका अपने प्रदेश में स्वागत भी किया। उसी के अनुरोध पर मनु ने उस प्रदेश के पुनरुद्धार करने का बीड़ा उठाया और अपने को स्वावलम्बी, कर्मठ और बुद्धिवादी अनुभव किया। अपने विकल्पों को संकल्प तथा जीवन को कर्म की पुकार कह वे सुख-साधन का द्वार खोलने के लिये तैयार हो गये।

स्वप्न सर्ग- इधर, मनु-गमन से श्रद्धा बहुत दुखी थी। विरहावस्था ने उसको अत्यधिक निराश, भावुक, कल्पनाप्रिय और चिंताग्रस्त बना दिया था। उस समय तो वह एक पुत्र-मानव की जननी भी थी। वही उसकी अंधे की लाठी था। एक रात्रि में श्रद्धा ने स्वप्न देखा- देखा की मनु ने इड़ा नगर को पुनः वैभव-सम्पन्न बना दिया है। इड़ा ही मनु की प्रधान सहयोगिनी है। मनु 'खाओ पिओ और मौज उड़ाओ' में ग्रस्त हो चुके हैं। किसी समय उन्होंने इड़ा पर भी कुदृष्टि डाली तो इड़ा ने विरोध किया। फलतः मनु का पुरुषत्व उन्मत्त हो उठा। वासना अंध होकर मनु ने इड़ा (अपनी प्रजा) को आलिंगन में बांध लिया। इस कुकृत्य पर सारी

सृष्टि क्रुद्ध हो उठी। इड़ा के नेतृत्व में ही प्रजा ने विरोध-स्वरूप विद्रोह कर दिया। यहां पर कि मनु की हत्या करने के लिये, असुर किलात और आकुलि के नेतृत्व में प्रजा के विद्रोही राजभवन में जा पहुंचे।' श्रद्धा स्वप्न में चौंक पड़ी और मनु-रक्षार्थ, मानव को साथ ले, मनु को ढूंढने निकल पड़ी।

संघर्ष सर्ग- श्रद्धा का स्वप्न स्वप्न नहीं, सत्य सिद्ध हुआ। चिंतित और भयभीत मनु सोचते रहे कि नियमक होने पर भी क्या मैं नियमवद्ध होने को बाध्य हूँ? इड़ा ने उनको पुनः प्रजा-हित की याद दिलायी और अनाचार न करने की सलांह दी। उन्मत्त मनु ने इसकी परवाह नहीं की और इड़ा पर झपटे किन्तु इसी समय सिंह द्वार को तोड़ प्रजा वहां पहुंच गयी। युद्ध हुआ और मनु मरणासन्न होकर उस भूमि पर गिर पड़े जहां रक्त नदी की बाढ़ आई हुई थी।

निर्वेद सर्ग- संघर्ष के उपरान्त समस्त सारस्वत प्रदेश विवाद में डूब गया। रात्रि की निरनन्वता में इड़ा मनु के कुकृत्यों और परिवर्तित मनोवृत्तियों पर विचार-मग्न थी कि उसको श्रद्धा का आकुल-कंठ सुनाई पड़ा। इड़ा ने उसका स्वागत किया और उसके पुत्र मानव का भी। अग्नि के प्रकाश में श्रद्धा ने भी मरणासन्न मनु को पहचान लिया। मानव भी पिता को पाकर खिल उठा।

प्रभात हुआ! मनु ने इड़ा को बाहर भेज श्रद्धा ने क्षमा याचना की, समझौता किया और कहीं और चलने का अनुरोध किया। चैन वास्तव में किसी को भी नहीं था- न मनु को न श्रद्धा को और न इड़ा को। आत्मग्लानिवश मनु सबको छोड़ पुनः सरस्वती-तीर पर आ गये।

दर्शन सर्ग- मनु को न पाकर श्रद्धा ने पुत्र मानव इड़ा को सौंपा और मनु की खोज में पुनः निकल पड़ी। मनु को पुनः श्रद्धा का अवलम्बन

मिला और उसी समय उन्होंने भगवान शिव का चितिमय प्रभापुंज देखा। वे चकित रह गये और श्रद्धा से अनुरोध करने लगे कि 'उन्हीं चरणों तक ले चल जहां आनन्द और समरस की स्थिति है।"

रहस्य सर्ग– मनु की आशा का पालन कर श्रद्धा मनु को हिमालय पर्वत पर ले आयी। पर्वत-पवित्रता का अवलोकन कर वे ऊपर बड़ते गये। एक समतल स्थान पर पहुंच मनु ने तीन प्रकाश-पिंड देखे और श्रद्धा से उसके विषय में पूछा। श्रद्धा ने एक-एक करके तीनों का परिचय विस्तारपूर्वक दिया। ये तीन प्रकाश-पिंड तीन लोक थे– भाव, कर्म और ज्ञान लोक। इसी समय श्रद्धा मुस्करा उठी। उसी मुस्कान से ऐसी ज्वाला फूटी जिससे तीनों लोक एक हो गये। तभी मनु ने भगवान शिव को तांडव नृत्य करते हुए देखा जिससे वे श्रद्धा सहित स्वयं भी समरसता की स्थिति में पहुंच गये। दिव्य अनादृत निनाद पर वे दोनों तन्मय हो गये।

आनन्द सर्ग– इधर इड़ा एक कारवां के साथ, मानव को साथ लेकर हिमालय पर बढ़ती गयी। धीरे-धीरे वे सब मानसरोवर पर जा पहुंचे। रात्रि का समय था और प्राकृतिक सुषमा चहुं ओर व्याप्त थी। मनु यहीं पर एक ओर ध्यानमग्न थे और श्रद्धा, समीप ही पुष्पांजलि लिए उपस्थित थी। सबने मनु-श्रद्धा को पहचान लिया। इड़ा ने श्रद्धा के चरण स्पर्श किये और सबने वहीं रहने का सुझाव दिया। मनु ने कहा कि यहां तो सभी ब्रह्ममय है। 'यहाँ मैं तू' की भावना नहीं है वरन् सभी एक हैं। यह तो समरमय स्थान है। इसी समय श्रद्धा (कामायनी) मुस्करा उठी जिससे एक-एक कण प्रफुल्लित हो उठा। उस प्रेम-ज्योति को देखकर सभी के नेत्र धन्य हो गये। जड़ और चेतन सभी समरस हो गये थे और सर्वत्र घना अखंडित आनन्द व्याप्त हो गया था। इसी आनन्दावस्था पर आकर 'कामायनी' की कथा समाप्त होती है।

चिंता

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता–कहो उसे जड़ या चेतन।
दूर दूर तक विस्तृत था हिम स्तब्ध उसी के हृदय-समान,
नीरवता-सी शिला-चरण से टकराता फिरता पवमान।
तरूण तपस्वी-सा वह बैठा साधन करता सुर-श्मशान,
नीचे प्रलयसिंधु लहरों का होता था सकरूण अवसान।
उसी तवस्वी-से लंबे थे देवदारू दो चार खड़े,
हुए हिम-धवल, लैसे पत्थर बन कर ठिठुरे रहे अड़े।
अवयव की दढ़ मांस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।
चिंता-कातर वदन हो रहा पौरूष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत।
बँधी महावट नौका थी सूखे में अब पड़ी रही,
उतर चला था वह जल-प्लावन, ओर निकलने लगी मही।
निकल रही थी मर्म वेदना करूणा विकल कहानी सी,
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती-सी पहचानी-सी।

"ओ चिंता की पहली रेखा, अरी विश्व-वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप-सी मतवाली।

है अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खललेखा!
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल-रेखा!
इस ग्रहकक्षा की हलचल-री तरल गरल की लघु-लहरी,
जरा अमर-जीवन की, और न कुछ सुनने वाली, बहरी!
अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी-अरी आधि, मधुमय अभिशाप!
हृदय-गगन में धूमकेतु-सी, पुण्य-सृष्टि में सुंदर पाप।।
मनन करावेगी तू कितना? उस निश्चित जाति का जीव-
अमर मरेगा क्या? तू कितनी गहरी डाल रही है नींव।
आह! घिरेगी हृदय-लहलहे-खेतों पर करका-घन-सी,
छिपी रहेगी अंतरतम में सब के तू निगूढ़ धन-सी।
बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता तेरे हैं कितने नाम!
अरी पाप है तू, जा, चल जा यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।
विस्मृति आ, अवसाद घेर ले, नीरवते! बस चुप कर दे,
चेतनता चल जा, जड़ता से आज शून्य मेरा भर दे।"

"चिंता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की, उस सुख की,
उतनी ही अनंत में बनती जातीं रेखायें दुख की।
आह सर्ग के अग्रदूत! तुम असफल हुए, विलीन हुए,
भक्षक जो समझो, केवल अपने मीन हुए।
अरी आँधियों! ओ बिजली की दिवा-रात्रि तेरा नर्त्तन,
उसी वासना की उपासना, वह तेरा प्रत्यावर्त्तन।
मणि-दीपों के अंधकारमय अरे निराशा पूर्ण भविष्य!
देव-दंभ के महामेघ में सब कुछ ही बन गया हविष्य।
अरे अमरता के चमकीले पुतलो! तेरे वे जयनाद-
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बन कर मानो दीन विषाद।

प्रकृति रही दुर्जय, पराजित हम उब थे भूले मद में,
भोले थे, हाँ तिरते केवल उब विलासिता के नद में।
वे उब डूबे, डूबा उनका विभव, बन गया पारावार–
उमड़ रहा था देव–सुखों पर दुःख–जलधि का नाद अपार।"

" वह उन्मत्त विलास हुआ क्या! स्वप्न रहा या छलना थी!
देवसृष्टि की सुख–विभावरी ताराओं की कलना थी।
चलते थे सुरभित अंचल से जीवन के मधुमय निश्वास,
कोलाहल में मुखरित होता देव जाति का सुख–विश्वास।
सुख, केवल सुख का वह संग्रह, केंद्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।
सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के–बल, वैभव, आनंद अपार,
उद्वेलित लहरों–सा होता उस समृद्धि का सुख–संचार।
कीर्त्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती अरूण–किरण–सी चारों ओर,
सप्तसिंधु के तरल कणों में, द्रुम–दल में, आनंद–विभोर।
शक्ति रही हाँ शक्ति–प्रकृति थी पद–तल में विनम्र विश्रांत,
कँपती धरणी उन चरणों से होकर प्रतिदिन ही आक्रांत।
स्वयं देव थे हम सब, तो फिर क्यों न विश्रृंखल होती सृष्टि?
अरे अचानक हुई इसी से कड़ी आपदाओं की वृष्टि।
गया, सभी कुछ गया, मधुर तम सुर–बालाओं का श्रृंगार,
उषा ज्योत्स्ना–सा यौवन–मधुप–सदृश निश्चिंत विहार।
भरी वासना–सरिता का वह कैसा था मदमत्त प्रवाह,
प्रलय–जलधि में संगम जिसका देख हृदय था उठा कराह।"

"चिर–किशोर–वय, नित्य विलासी–सुरभित जिससे रहा दिगंत
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह मधु से पूर्ण अनंत बसंत?

कुसुमित कुंजों में वे पुलकित प्रेमालिंगन हुए विलीन,
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें और न सुन पड़ती अब बीन।
अब न कपोलों पर छाया-सी पड़ती मुख की सुरभित भप,
भुज-मूलों में शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप।
कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतों में स्वर लय का होता अभिसार।
सौरभ से दिगंत पूरित था, अंतरिक्ष आलोक-अधीर,
सब में एक अचेतन गति थी, जिससे पिछड़ा रहे समीर।
वह अनंग-पीड़ा-अनुभव-सा अंग-भंगियों का नर्त्तन,
मधुकर के मरंद-उत्सन-सा मदिर भव से आवर्त्तन।
सुरा सुरभिमय बदन अरूण वे नयन भरे आनस अनुराग,
कल कपोल था जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग।
विकल वासना के प्रतिनिधि वे उब मुरझाये चले गये,
आह! जले अपनी ज्वाला से फिर वे जल में गले, गये।"

"अरी उपेक्षा-भरी अमरते! री अतृप्ति! निर्बाध विलास!
द्विधा-रहित अपलक नयनों की भूख-भरी दर्शन की प्यास!
बिछुड़ तेरे सब आलिंगन, पुलक-स्पर्श का पता नहीं,
मधुमय चुंबन कातरतायें, आज न मुख को सता रहीं।
रत्न-सौध के वातायन, जिनमें आता मधु-मदिर समीर,
टकराती होगी अब उनमें तिमिंगिलों की भीड़ अधीर।
देवकामिनी के नयनों से जहाँ नील नलिनों की सृष्टि-
होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।
वे अम्लान-मुसुम-सुरभित-मणि-रचित मरोहर मालायें,
बनीं शृंखला, जकड़ी जिनमें विलासिनी सुर-बालायें।

देव-यजन के पशुयज्ञों की वह पूर्णाहुति की ज्वाला,
जलनिधि में बन जलती कैसी आज लहरियों की माला।"

"उनको देख कौन रोया यों अंतरिक्ष में बैठ अधीर!
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय यह प्रालेय हलाहल नीर!
हाहाकार हुआ क्रंदनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगंत बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।
दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज-तट के!
सघन गगन कें भीमप्रकंपन, झंझा के चलते झटके।
अंधकार में मलिन मित्र की धुँधली आभा लीन हुई,
वरूण व्यस्त थे, घनी कालिमा स्तर-स्तर जमती पीन हुई।
पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल-नपात
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
बार बार उस भीषण रव से कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो आलिंगन के हेतु अशेष!
उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वाला-मुखियों के निश्वास
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास।
सबल तरंगाघातों से उस क्रुद्ध सिंधु के, विचलित-सी।
बढ़ने लगा विलास-वेग-सा वह अतिभैरव जल-संघात,
तरल-तिमिर से प्रलय-पवन का होता आलिंगन, प्रतिघात।
वेला क्षण-क्षण निकट आ रही क्षितिज क्षीण, फिर लीन हुआ,
उदधि डुबाकर अखिल धरा को बस मर्य्यादा-हीन हुआ!
करका क्रंदन करती गिरती और कुचलना था सब का,
पंचभूत का यह तांडवमय नृत्य हो रहा था कब का।"

"एक नाव थी, और न उसमें डाँड़े लगते, या पतवार,
तरल तरंगों में उठ-गिरकर बहती पगली बारबार।
लगते प्रबल थपेड़े, धुँधले तट का था कुछ पता नहीं,
कातरता से भरी निराशा देख नियति पथ बनी वहीं।
लहरें व्योम चूमती उठतीं, चपलायें असंख्य नचतीं,
गरल जलद की खड़ी झड़ी में बूँदें निज संसृति रचतीं।
चपलायें उस जलधि-विश्व में स्वयं चमत्कृत होती थीं,
ज्यों विराट बाड़व-ज्वानायें खंड-खंड हो रोती थीं।
जलनिधि के तलवासी जलचर विकल निकलते उतराते,
हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी कौन! कहाँ! कब! सुख पाते?
घनीभूत हो उठे पवन, फिर श्वासों की गति होती थी क्रुद्ध।
उस विराट् आलोड़न में ग्रह, तारा बुद-बुद से लगते,
प्रखर प्रलंय-पावस में जगमग, ज्योतिरिगणों-से जगते।
इनके सूचक उपकरणों का चिह्न न कोई पा सकता।
काला शासन-चक्र मृत्यु का कब तक चला, न स्मरण रहा,
महामत्स्य का एक चपेटा दीन पोत का मरण रहा।
किंतु, उसी ने ला टकराया इस उत्तरगिरि के शिर से,
देव-सृष्टि का ध्वंस अचानक श्वास लगा लेने फिर से।
आज अमरता का जीवित हूँ मैं वह भीषण जर्जर दंभ,
आह सर्ग के प्रथम अंक का अधम-पात्र मय सा विष्कंभ!"

"ओ जीवन की मरू-मरीचिका, कायरता के अलस विषाद!
अरे पुरातन अमृत! अगतिमय मोहमुग्ध जर्जर अवसाद!
मौन! नाश! विध्वंस! अँधेरा! शून्य बना जो प्रकट अभाव,
वही सत्य है, अरी अमरते! तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव।

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे! तेरा अंक हिमानी-सा शीतल,
तू अनंत में लहर बनाती काल-जलधि की-सी हलचल।
महानृत्य का विषम सम अरी अखिल स्पंदनों की तू माप,
तेरी ही विभूति बनती है सृष्टि सदा होकर अभिशाप।
अंधकार के अट्टहास-सी मुखरित सतत चिरंतन सत्य,
छिपी सृष्टि के कण-कण में तू यह सुंदर रहस्य है नित्य।
जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घन-माला में,
सौदामिनी-संधि-सर सुंदर क्षण भर रहा उजाला में।"

पवन पी रहा था शब्दों को निर्जनता की उखड़ी साँस,
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि बनी हिम-शिलाओं के पास।
धू-धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का तांडव नृत्य,
आकर्षण-विहीन विद्युत्कण बने भरवाही थे भृत्य,
मृत्यु सदृश शीतल निराश ही आलिंगण पाती थी दृष्टि,
परमव्योम से भौतिक कण-सी घने कुहासों की थी वृष्टि।
वाष्प बना उड़ता जाता था या वह भीषण जल-संघात,
सौरचक्र में आवर्त्तन था प्रलय निशा का होता प्रात!

श्रद्धा

"कौन तुम? संसृजित-लनिधि तीर तरगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक?
मधुर विश्रांत और एकांत- जगत का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन और चंचल मन का आलस्य!

सुना यह मनु ने मधु गुंजार मधुकरी का सा जब सानं
किये मुख नीचा कमल समान प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छं
एक झिटका सा लगा सहर्ष, निरखने लगे लुटे से, कौन
गा रहा यह सुन्दर संगीत? कुतूहल रह न सका फिर मौ
और देखा वह सुन्दर दृश्य नयन का इंद्रजाल अभिरा
कुसुम-वैभव में लता समान चंद्रिका से लिपटा घनश्या
हृदय की अनुकृति वाह्य उदार एक लम्बी काया, उन्मुक
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल सुशोभित हो सौरभ संयुक
मसृण गांधार देश के, नील रोम वाले मेषो के चम
ढंक रहे थे उसका वपु कांत बन रहा था वह कोमल व
नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अं
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-बन बीच गुलाबी रं
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम-बीच जब घिरते हो घन श्या
अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छविधा
या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग फोड़ कर धधक रही हो कां
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रां

घिर रहे थे घुंघराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुस्कयान! रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।
नित्य यौवन छवि से हो दीप्त विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
उषा की पहलीलेखा कांत, माधुरी से भींगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज भोर ही तारक द्युति की गोद।
कुसुम कानन-अंचल में मन्द पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र नवल मधु-राका मन की साध;
हंसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब मधुरिमा खेला सदृश अबाध!

कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच बना जीवन रहस्य निरुपाय;
एक उल्का सा जलता भ्रांत, शून्य में फिरता हूँ असहाय।
शैल निर्झर न बना हतभाग्य गल नहीं सका जो कि हिम खंड
दौड़ कर मिला न जलनिधि अंक आह वैसा ही हूँ पाषंड।
पहेली सा जीवन है व्यस्त उसे सुलझाने का अभिमान
बताता है विस्मृति का मार्ग चल रहा हूँ बन कर अनजान
भूलता ही जाता दिन रात सजल अभिलाषा कलित अतीत;
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य दीन जीवन का यह संगीत।
क्या कहूं, क्या हूँ मैं उद्भ्रांत? विवर में नील गगन में आज
वायु की भटकी एक तरंग, शून्यता का उजड़ा सा राज।
एक विस्मृति का स्तूप अचेत, ज्योति का धुंधला सा प्रतिबिम्ब;
और जड़ता की जीवन राशि सफलता का संकलित विलम्ब।

"कौन हो तुम वसंत के दूत विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
घन तिमिर में चपला की रेख, तपन में शीतल मंद बयार।
नखत की आशा किरण समान, हृदय के कोमल कवि की कांत-
कल्पना की लघु लहरी दिव्य कर रही मानस हलचल शांत!"

लगा कहने आगंतुक व्यक्ति मिटाता उत्कंठा सविशेष;
दे रहा हो कोकिल सानन्द समुन को ज्यों मधुमय सन्देश-

"भरा था मन में नव उत्साह सीख लूं ललित कला का ज्ञान
इधर रह गंधर्वों के देश, पिता की हूँ परी संतान।
घूमने का मेरा अभ्यास बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य;
कुतूहल खोज रहा था व्यस्त हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।
दृष्टि जब जाती हिम-गिरि ओर प्रश्न करता मन अधिक अधीर,
धरा की यह सिकुड़न भयभीत आह कैसी है? क्या है पीर?
मधुरिमा में अपनी ही मौन एक सोया संदेश महान,
सजग हो करता था संकेत, चेतना मचल उठी अनजान।
बढ़ा मन और चले ये पैर शैल मालाओं का शृंगार;
आँख की भूख मिटी यह देख आह कितना सुन्दर सम्भार!
एक दिन सहसा सिंधु अपार लगा टकराने नग तल क्षुब्ध;
अकेला यह जीवन निरुपाय आज तक घूम रहा विश्रब्ध।
यहां देखा कुछ बलि का अन्न भूत-हित-रत किसका यह दान!
इधर कोई है अभी संजीव, हुआ ऐसा मन में अनुमान।
तपस्वी! क्यों इतने हो क्लांत? वेदना का यह कैसा वेग?
आह! तुम कितने अधिक हताश बताओ यह कैसा उद्वेग!
हृदय में क्या है नहीं अधीर, लालसा जीवन की निश्लेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश!

दु:ख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओं का कर अनुमान;
काम से झिझक रहे हो आज, भविष्यत् से बन कर अनजान।
कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से मंडित सर्ग, इच्छा कर है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भावधाम।
"दु:ख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात;
एक परदा यह झीना नील छिपाये है जिसमें सुख गात।
जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरवाद कभी मत इसको जाओ भूल;
विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।"

लगे कहने मनु सहित विषाद:- "मधुर मारुत से ये उच्छ्वास
अधिक उत्साह तरंग अबाध उठाते मानस में सविलास।
किंतु जीवन कितना निरुपाय! लिया है देख नहीं संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम सफलता का वह कल्पित गेह।"

कहा आगंतुक ने सस्नेह: "अरे, तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दांव, जीतते मर कर जिसको वीर।
तप नहीं केवल जीवन सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।
प्रकृति के यौंवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।

पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनंद किये है परिवर्तन में टेक।
युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पद चिन्ह चली गंभीर;
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर।

"एक तुम, यह विस्तृत भूखंड प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़ का चेतन आनंद।
अकेले तुम कैसे असहाय यजन कर सकते? तुच्छ विचार।
तपस्वी! आकर्षण से हीन कर सके नहीं आत्म विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ खोजते भी न कहीं अवलंब;
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न उऋण होऊं मैं बिना विलंब?
समर्पण लो सेवा का सार सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद तल में विगत विकार।
दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ तुम्हारे लिए खुला है पास।
बनो संसृति के मूल रहस्य, तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर भौरभ से भर जाय सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

"और यह क्या तम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान–
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो', विश्व में गूंज रहा जय गान।
"डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मंगल मय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
देव-असफलताओं का ध्वंस प्रचुर उपकरण जुटा कर आज;
पड़ा है बन मानव संपत्ति पूर्ण हो मन का चेतन राज।
चेतना का सुन्दर इतिहास अखिल मानव भावों का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज और ज्वालासुखियां हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प कुचलती रहे खड़ी सानंद;
आज से मानवता की कीर्ति अनिल, भू, जल में रहे न बद्ध
जलधि के फूटें कितने उत्स द्वीप, कच्छप डूबें-उतराय;
किंतु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति अभ्युदय का कर रही उपाय।
विश्व की दुर्बलता बल बने, पराजय का बढ़ता व्यापार
हंसाता रहे उसे सविलास शक्ति का कीड़ामय संचार।
शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसक करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।"

रहस्य

ऊर्ध्व देश उस नील तमस में स्तब्ध हारे रही अचल हिमानी;
पथ थक कर रहै लीन चतुर्दिक देख रहा वह गिरि अभिमानी,
दोनों पथिक चले हैं कब से ऊँचे चढ़ते चढ़ते;
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे साहस उत्साही से बढ़ते।

पवन वेग प्रतिकूल उधर था कहता, फिर जा अरे बटोही!
किधर चला तू मुझे भेद कर? प्राणों के प्रति क्यों निर्मोही?
छूने को अम्बर मचली सी बढ़ी जा रही सतत ऊँचाई;
विक्षत् उसके अंग, प्रगट थे भीषण खड्ड भयकरी खाई।

रवि कर हिम खंडों पर पड़ कर हिमकर कितने नये बनाता
द्रुततर चक्कर काट पवन भी फिर से बही लौट आ जाता।
नीचे जलधर दौड़ रहे थे सुन्दर सुर-धनु माला पहने।
कुंजर-कलभ सदश इठलाते चमकाते चपला के गहने।

प्रवहमान थे निम्न देश में शीतल शत शत निर्झर ऐसे।
महा श्वेत गजराज गण्ड से बिखर मधु धाराएं जैसे।
हरियाली जिनकी उभरी, वे समतल चित्रपटी से लगते;
प्रतिकृतियों के वाह्य रेख से स्थिर, नद जो प्रतिपल थे भगते।

लघुतम वे सब जो बसुधा पर ऊपर महाशून्य का घेरा
ऊँचे चढ़ने की रजनी का यहाँ हुआ जा रहा सवेरा।
"कहां ले चली हे अब मुझको श्रद्धे! मैं थक चला अधिक हूँ;
साहस छूट गया है मेरा निस्संबल भग्नाश पथिक हूँ।

लौट चलो, इस वात-चक्र से मैं दुर्बल अब लड़ सकूँगा।
श्वास रुद्ध करने वाले इस शीत पवन से अड़ न सकूँगा।
मेरे, हां वे सब मेरे थे जिनसे रूठ चला आया हूँ;
वे नीचे छूटे सुदूर, पर भूल नहीं उनको पाया हूँ!

वह विश्वास भरी स्मिति निश्छल श्रद्धामुख पर झलक उठी थी;
सेवा कर-पल्लव में उसके कुछ करने को ललक उठी थी।
दे अवलंब विकल साथी को कामायनी मधुर स्वर बोली;
"हम बढ़ दूर निकल आये अब करने का अवसर न ठिठोली।

दिशा विकम्पित, पल असीम है यह अनंत सा कुछ ऊपर है;
अनुभव करते हो, बोलो क्या पदतल में सचमुच भूधर है?
निराधार हैं, किन्तु ठहरना हम दोनों को आज वहीं है;
नियति खेल देखूं न, सुनो अब इसका अन्य उपाय नहीं है।

झांई लगती जो, वह तुमको ऊपर उठने को है कहती;
इस प्रतिकूल प्रवन धक्के को झोंक दूसरी ही आ सहती।
श्रांत पक्ष, कर नेत्र बन्द बस विहग युगल से आज हम रहें
शून्य, पवन बन पंख हमारे हमको दे आधार, जम रहें।

घबराओ मत! यह समतल है देखो तो, हम कहां आ गये।"
मनु ने देखा आँख खोल कर जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये।
ऊष्मा का अभिनव अनुभव था ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे।
दिवा रात्रि के संधि काल में, ये सब कोई नहीं व्यस्त थे।

ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित भू-मंडल रेखा विलीन सी;
निराधाग्र उस महादेश में उदित सचेतनता नवीन सी।

त्रिदिक् विश्व, आलोक बिन्दु भी तीन दिखाई पड़े अलग वे;
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो वे अनमिलन वे कितु सजग।

मनु ने पूछा, कौन नये ग्रह ये है, श्रद्धे! मुझे बताओ;
मैं किस लोक बीच पहुंचा, इस इंद्रजाल से मुझे बचाओ।"
"हस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम शक्ति विपुल क्षमतावाले ये;
एक एक को स्थिर हो देखो इच्छा, ज्ञान प्रिया वाले ये।

वह देखो रागारुण है जो ऊषा के कंदुक सा सुंदर;
छायामय कमनीय कलेवर भाव-मयी प्रतिमा का मन्दिर।
शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की पारिदर्शिनी सुघड़ पुतलियां;
चारों और नृत्य करती ज्यों रूपवती रंगीन तितलियां!
इस कुसुमाकर के कानन के अरुण पराग पटल छाया में;
इठलातीं सोतीं जगतीं ये अपनी भाव भरी माया में!
वह संगीतात्मक ध्वनि इनकी कोमल अंगड़ाई है लेती;
मादकता की लहर उठा कर अपना अंबर तर कर देती।

आलिंगन सी मधुर प्रेरणा छू लेती फिर, सिहरन बनती;
नव अलंबुषा की ब्रीड़ा सी खुल जाती है, फिर जा मुंदती!
यह जीवन की मध्यभूमि है रस धारा से सिंचित होती;
मधुर लालसा की लहरों से यह प्रवाहिका स्पंदित होती।

जिसके तट पर विद्युत कण ने मनोहारिणी आकृति वाले;
छायामय सुषमा में विह्वल विचर रहे सुन्दर मतवाले।
सुमन संकुलित भूमि रंध्र से मधुर गंध उठती रस भीनी;
वाष्प अदृश्य फुहारे इसमें छूट रहे, रस बूंदें झीनी।

घूम रही है यहाँ चतुर्दिक् चल चित्रों सी ससृति छाया;
जिस आलोक बिन्दु को घेरे वह बैठी मुसक्याती माया।
भाव चक्र यह चला रही है इक्छा की रथ-नाभि घूमती;
नव रस भरी अराएँ अविरल चक्रवाल को चकित चूमतीं।
यहाँ मनो विश्व कर रहा रागारुण चेतन उपासना;
माया राज्य! यही परिपाटी पाश बिछा कर जीव फाँसना।
ये अशरीरी रूप, सुमन से केवल वर्ण गंध में फूले;
इन अप्सरियो की तानां के मचल रहे हैं सुन्दर झूले।
भाव भूमिका इसी लोक की जननी है सब पुण्य पाप की;
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन गल-ज्वाला ने मधुर ताप की।
नियममयी उलझन नतिक का भाव विटपि से आकार मिलना;
जीवन बन की बनी समस्या आशा नभकुसुमों का खिलना।

चिर-वसंत का यह उद्‌गम है; पतझर होता एक ओर है;
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं सुखदुख बंधते, एक डोर है।"
"सुन्दर यह तुमने दिखलाया किन्तु कौन वह श्याम देश है?
कामायनी! बताओ उसमें क्या रहस्य रहता विशेष है।"

"मनु यह श्यामल कर्म लोक है धुंधला कुछ कुछ अंधकार सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूम धार सा।
कर्म-चक्र सा घूम रहा है यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है कोई व्याकुल नयी एषणा।

श्रममय कोलाहल, पीडनमयश विकल प्रवर्त्तनं महायंत्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है प्राण दास है किया तन्त्र का।

भाव राज्य के सकल मानसिक सुख यों दुख में बदल रहे हैं;
हिंसा सर्वोन्नत हारों में ये अकड़े अणु टहल रहे हैं।

ये भौतिक संदेह कुछ करके जीवित रहना यहां चाहते;
भाव राष्ट्र के नियम यहां दण्ड बने हैं, सब कराहते।
करते हैं सन्तोष नहीं है जैसे कशाघात प्रेरित से–
प्रति क्षण करते ही जाते हैं भीति विवश ये सब कंपित से।

नियति चलाती कर्म चक्र यह तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणि-पादमय पंचभूत की यहाँ हो रही है उपासना।
यहाँ सतत संघर्ष विफलता कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही मतवाला यह सब समाज है।

स्थूल हो रहे रूप बना कर कर्मों की भीषण परिणति है;
आकांक्षा की तीव्र पिपासा! ममता की यह निर्मम गति है।
यहाँ शासनादेश घोषणा विजयों की हुंकार सुनाती;
यहाँ भूल से विकल दलित को पदतल में फिर फिर गिरवाती।

यहाँ लिचये दायित्व कर्म का उन्नति करने के मतवाले;
जला जला कर फूट पड़ रहे ढुल कर बहने वाले छाले।
यहाँ राशिकृत विपुल विभव सब मरीचिका से दीख पड़ रहे;
भाग्यवान बन क्षणिक भो के वे विलीन, ये पुनः गड़ रहे।

बड़ी लालसा यहां सुयश की अपराधों की स्वीकृति बनती;
अन्ध प्रेरणा से परिचालित कर्ता में करते निज गिनती।
प्राण तत्व की सघन साधना जल, हिम उपल यहाँ है बनता।
प्यासे घायल हो जल जाते मर मर कर जीते ही बनता।

यहां नील लोहित ज्वाला जला गला कर नित्य ढालती;
चोट सहन कर रुकने वाली धातु, न जिसको मृत्यु सालती।
वर्षा के घन नाद कर रहे तट कूलों को सहज गिराती;
प्लावित करती वन कुंजों को लक्ष्य प्रापित सरिता बह जाती।"

"बस! अब और न इसे दिखा तू यह अति भीषण कर्म जगत है;
श्रद्धे! वह उज्ज्वल कैसा है जैसे पुंजीभूत रजत है।"
प्रियतम! यह तो ज्ञान क्षेत्र है सुख दुख से है उदासीनता;
यहां न्याय निर्मम, चलता है बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता।

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश करते ये अणु तर्क युक्ति से;
ये निस्संत, किंतु कर लेते कुछ सम्बंध-विधान मुक्ति से।
यहां प्राप्य मिलता है केवल तृप्ति नहीं कर भेद बांटती;
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी प्यास लगी है ओस चाटती।

न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे ये प्राणी चमकीले लगते!
इस निदाघ मरु में सूखे से स्रोतों के तट जैसे जगते।
मनोभाव से कार्यक्रम का सम-तोलन में दत्त चित्त से;
ये निस्पृह न्यायासन वाले चूक न सकते तनिक वित्त से।

अपना परिमित पात्र लिये ये बूंद बूंद वाले निर्झर से;
मांग रहे हैं जीवन का रस बैठ यहां पर अजर अमर से।
यहां विभाजन धर्म तुला का अधिकारों की व्याख्या करता;
यह निरीह, पर कुछ पाकर ही अपनी ढीली साँसें भरता।

उत्तमत्ता इनका निजस्व है अम्बुज वाले सर सा देखो;
जीवन-मधु एकत्र कर रहीं उन ममाखियां सा बल लेखो।
यहां शरद की धवल ज्योत्स्ना अंधकार को भेद निखरती;
यह अनवस्था, युगल मिले से विकल व्यवस्था सदा बिखरती।

देखो वे सब सौम्य बने हैं किंतु सशंकित हैं दोषों से;
वे संकेत दभ के चलते भ्रू चालन मिस परितोषों से
यहां अछूत रहा जीवन रह छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा तृषा! मृषा, वंचित होने दो।

सामंजस्य चले करने ये किन्तु विषमता फैलाते हैं;
मूल स्वत्व कुछ और बताते इच्छाओं को झुठलाते हैं।
स्वयं व्यस्त पर शांत बने से शस्त्र शास्त्र रक्षा में पलते;
ये विज्ञान भरे अनुशासन क्षण क्षण परिवर्तन में ढलते।

वही त्रिपुर है देखा तुमने तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने,
अपने केन्द्र बने दुख सुख में भिन्न हुए है। ये सब कितने!
ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से मन न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।"

महा ज्योति रेखा सी बनकर श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।
नीचे ऊपर लचकीली वह विषय वायु में धधक रही सी;
महाशून्य में ज्वाला सुनहली, सब को 'नहीं नहीं' सी।

शक्ति तरंग प्रलय पावक का उस त्रिकोण में निखर उठा सा;
शृंग और डमरू निनाद बस सकल विश्व में बिखर उठा सा।
चितिमय चिता धधकती अकिल महाकाल का विषम नृत्य था;
विश्व रंध्र ज्वाला से भर कर करता अपना विषम कृत्य था।

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

